Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. 13, Issue No. 2, July-2017, ISSN 2230-7540

हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना: स्वरुप एवं आयाम

Dr. Hemlata Sharma*

Assistant Professor, J. C. College, Assandh, Karnal, Haryana

---------------------------------X---------------------------------

प्रस्तावना :

प्रत्येक साहित्यकार रचनाकार होने से पहले व्यक्ति है और इसी कारण वह समाज से, आस–पास के परिवेश से जुड़ा हुआ होता है। वह समाज के साथ सामीप्य स्थापित करने से ही उसके यथार्थ से परिचित होता है और इससे समाज में होने वाले विभिक्त परिवर्तनों, नित्य–प्रतिदिन घटित होने वाली घटनाओं आदि से उसका सीधा साक्षात्कार होता है। वह न्याय–अन्याय, सत्य–असत्य, उचित–अनुचित इत्यादि में से प्रथम का पक्ष लेता है और दूसरे के विरुद्ध अपनी लेखनी, अटूट विश्वास व स्वस्थ विचारों के साथ तनकर खड़ा हो जाता है। उसकी यही विशेषता उसे सामान्य व्यक्ति से पृथक् करती है जिसके पफलस्वरूप वह रचना करने के लिए बाध्य हो जाता है और उसके संवेदनशील विचारों के उसकी रचना में समाहित हो जाने के कारण ही उसकी रचना महत्त्वपूर्ण बनती है। रचनाकार अपने चारों ओर के वातावरण के यथार्थ से परिचित होकर उससे संवेदना के स्तर पर ही संबद्ध होता है। इस यथार्थ के अंतर्गत ही जीवन के सभी पक्ष समाहित होते हैं और इसी यथार्थ का सहारा लेकर एक रचनाकार समाज की विडम्बनाओं तक पहुँच पाता है। अवश्य ही मनुष्य सामाजिक प्राणी है समाज के बिना उसका अस्तित्व नहीं है। व्यक्ति समाज की सबसे लघु इकाई है। व्यक्ति के जीवन की सार्थकता समाज में ही पाई जाती है। व्यक्ति का अपने परिवेश के साथ घनिष्ट सम्बन्ध होता है। समाज में घटित होने वाली बहुत–सी घटनाएँ व परिस्थितियाँ उसके व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। वह जिस परिवेश में जन्म लेगा उसका विकास वैसा ही होगा। व्यक्ति से पृथक् समाज की कल्पना की ही नहीं जा सकती। यह बात दूसरी है कि समाज के नियम व्यक्ति विशेष के नियमों से भिन्न हो सकते हैं परन्तु व्यक्ति अपने व्यक्तिगत नियमों को समाज सापेक्ष रखकर ही समाज की इकाई बन जाता है। समाज से अलग होकर व्यक्ति का जीवन कठिन है। इसलिए समाज में रहकर ही वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता है। इस प्रकार व्यक्ति व समाज एक दूसरे के पूरक हैं।

सामाजिक चेतना : आशय एवं स्वरूप :

समाज में नित्य प्रतिदिन घटित होने वाली घटनाओं को देखकर वैसे तो प्रत्येक नागरिक प्रभावित होता है। लेकिन साहित्यकार क्योंकि सहृदय व्यक्ति होता है। इसलिए वह उन स्थितियों को हृदयगम करके समाज के हितार्थ समाज सापेक्ष निर्णय लेता है। इसलिए सम्पूर्ण मानव समाज में साहित्यकार को ही अधिक सजग, सचेत, चेतन, विद्रोही और आन्दोलनकारी व परिवर्तन का मुखिया माना जाता है। इतिहास साक्षी है जब–जब समाज में परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी है तब–तब वैचारिक स्तर पर आन्दोलन की पहल साहित्यकारों ने ही की है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमचंद, प्रसाद, दिनकर, निराला ये सब सामाजिक चेतना और परिवर्तन के अग्रणी रहे हैं। सामाजिक चेतना प्रत्येक व्यक्ति में चैतन्य और मूर्त है परन्तु अशिक्षा, अभाववश या रूढ़ि से प्रभावित होकर वह कुंठित हो जाती है। इस दुष्प्रभाव से मुक्त रहना तथा कुंठा को अपनी अन्तवृत्ति से तिरोहित किए रखना ही सामाजिक चेतना है। यह मानव समाज की ज्ञानात्मक वृत्ति है जिसमें 'समाज' जनता के आकस्मिक जमावड़े या समूह को नहीं अपितु उन एकत्रित लोगों को कहा जाता है जिनका एक निश्चित उद्देश्य या लक्ष्य होता है जिसके लिए वे मिलकर काम करते हैं। मानव समाज कई बार विभिक्त धर्मों एवं भाषाओं में विभाजित होने के कारण पतन की अवस्था में आ जाता है तब ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में जो प्रतिभा ज्योति समाज का मार्गदर्शन करती है वही सामाजिक चेतना का वाहक कहलाती है।

समाज :

'समाज' शब्द 'सम' उपसर्ग और 'अज्' धातु से 'धम' प्रत्यय लगाने से बनता है। 'सम' का अर्थ है सम्यक् रूप से तथा 'अज्' का अर्थ है जाना। शाब्दिक रूप में समाज का अर्थ है–

'सम्यक् अजन्ति गच्छन्ति जनाः अस्मिन इतिसमाजः'1

अर्थात् जिसमें सभी लोग अच्छी तरह से रहें, वह समाज है। सामान्य भाषा में समाज का अर्थ व्यक्तियों के व्यवस्थित समूह से किया जाता है किन्तु समाज केवल व्यक्तियों का समूह मात्रा नहीं है, अपितु सामाजिक सम्बन्धों तथा समस्याओं का गहन जाल है। प्रत्येक समाज की अपनी मान्यताएँ, रीति–रिवाज एवं परम्पराएँ होती है। ये परम्पराएँ ही समाज विशेष में रहने वाले भिन्न–भिन्न व्यक्तियों को एक सूत्रा में बांधती हैं। प्रायः हर युग के रीति–रिवाज एवं जीवन–मूल्य समयानुकूल परिवर्तित होते रहते हैं। यदि उसमें स्थिरता आ जाए तो सामाजिक विघटन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाएगी। समाज में निरंतर परिवर्तन–शीलता उसकी जीवन्तता का परिचायक है। इस प्रकार किसी एक ही उद्देश्य को लेकर किसी निश्चित दिशा में जाने वाले मानव समूह को समाज कहा जाता है। शब्दाकोषों के आधार पर 'समाज' शब्द पर दृष्टिपात करें तो इसका मूल अर्थ निकलकर आता है–समुदाय, सभा, संस्था अथवा समूह। समाज ऐसे लोगों का समूह है जो समानता की भावना रखते हैं तथा परस्पर सहयोग देते हैं, जिससे उनके सामाजिक विकास के साथ ही साथ आर्थिक, सांस्कृतिक विकास को मदद मिल सके। परस्पर सहयोग एवं सहायता की भावना किसी भी समाज के स्थायित्व के लिए अनिवार्य पहलू है। इसीलिए अरस्तु ने मनुष्य को एक सामाजिक

www.ignited.in

प्राणी कहते हुए कहा है कि–'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के बाहर रहने वाला मनुष्य या तो देवता हो सकता है या पशु।' इन अर्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'समाज, चेतना सम्पन्न मानव–प्राणियों के उस समूह मात्रा को कहते हैं, जो कुछ निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए परस्पर एक–दूसरे से संब(हैं और जो एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा प्रभावित होते हैं।'1

समाज और मानव :

समाज गतिशील एवं विकासशील है परिवर्तन–प्रकृति का सि(न्त है। परिस्थितियों के अनुरूप सामाजिक व्यवस्था भी परिवर्तित होती रहती है, समाज नियम एवं आदर्शों द्वारा चालित होता है। समाज की उत्पत्ति न ईश्वर द्वारा प्रदत्त है और न ही परिवार का विस्तार। समाज तो मानव–सभ्यता की आरंभिक संस्था है। वर्तमान युग में समाज का अर्थ मात्रा राष्ट्र नहीं अपितु अखिल विश्व मानव समाज बन चुका है। इसी संबंध में डॉ. राधाकृष्ण का मानना है– 'विश्व हमारा प्रांगण है और हम तब तक आत्म–पर्याप्त नहीं हो सकते जब तक विश्व न एक हो जाए।'2 'समाज शास्त्रा के अनुसार समाज मनुष्यों का एक समूह हैं, कई समूहों का वृहत् समुदाय है, यह मनुष्यों के आपसी संबंधों का पुंज है। अनेक मनुष्यों का जीवन–विधि से संबंधित होने के कारण उनके आपसी जटिल संबंधों के इस पुंज को समाज की संज्ञा दी जा सकती है। इसमें प्रत्येक मानव अपने आत्मविस्तार, आत्मसंरक्षण और आत्मोपलब्धि का प्रयास करता हुआ ही व्यवस्था में रहता है। यह सामाजिक लक्षण मानवीय जीवन के समान ही गतिशील और परिवर्तनशील है।'

समाज और साहित्य :

साहित्य और समाज के सम्बन्धों पर प्रत्येक साहित्य और साहित्यकार ने अपना दृष्टिकोण रखा है, विभिन्न परिभाषाएँ भी दी है, अपने विचार भी व्यक्त किए हैं और मत भी दिये हैं, परन्तु निष्कर्ष यहीं पर ठहरता है कि साहित्य और समाज एक–दूसरे के पूरक हैं उनकी पूर्णता एक–दूसरे को लेकर साथ चलने में है। कहीं साहित्य समाज का दर्पण है, कहीं चित्रा, कहीं मार्ग–निर्देशक और कहीं नियंता। साहित्यकार अपनी कलम चलाने से पहले उस समाज का प्राणी होता है, समकालीन स्थितियों का अवलोकन और मूल्यांकन करता है पिफर अपने विवेक और संवेदनाओं के साथ समाज सापेक्ष रचना रचता है। कबीर, तुलसी, प्रेमचंद जैसे अनेक साहित्यकारों ने अपने साहित्य द्वारा समाज में पफैली कुरीतियों, रीति–रिवाजों तथा धार्मिक आडम्बरों का विरोध किया है और समाज को सही रास्ता दिखाने का प्रयत्न भी किया है। मुंशी प्रेमचंद जी ने सदा अपने साहित्य में शोषित वर्ग को एक नई चेतना देने की कोशिश भी की है। साहित्य समाज के तथा जीवन के सभी पक्षों की वाणी है। 'आज का साहित्य मानव–जीवन को आधार मानकर रचा गया है। वह जीवन के गुणों व अवगुणों दोनों का अवलोकन करवाता हुआ 'सत्यम् ' 'शिवम्' 'सुन्दरम्' की स्थापना करने में प्रयास–रत रहता है।'1पहले साहित्य का प्रारूप केवल एक विशेष उच्चवर्ग के लिए होता था

परन्तु आज साहित्य एक विशेष वर्ग तक सीमित न रहकर आम आदमी की मनःस्थिति तक पहुंच गया है।

चेतना :

'समाज' को समझने के पश्चात् यह 'चेतना' शब्द क्या है–इसे जानना बहुत आवश्यक है। 'चेतना' स्वयं में अत्यंत संश्लिष्ट और व्यापक अर्थ रखने वाला शब्द है। साहित्य व समाज की भांति आज 'चेतना' शब्द भी चिंतन, मनन और अध्ययन की महत्त्वपूर्ण अवधारणा और संकल्पना है। 'चेतना' का प्रयोग दर्शन और अध्यात्म के संदर्भ में ही प्रायः मिलता है। अतः इसे कहीं 'आत्मा' और कहीं 'ईश्वर' या ब्रह्मा का पर्याय माना जाता है। मानक हिन्दी कोश में 'चेतना' को आंतरिक अनुभूतियों और बाह्य घटनाओं का भान कराने वाली वृत्ति कहा गया है। कोशकारों ने 'चेतना' शब्द का अर्थ वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान कराने वाली चितवृत्ति, आत्मा, चैतन्य आदि रूपों में किया है। चेतना शब्द को लेकर विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने ढंग से मत व्यक्त किए हैं। डॉ. देवराज बाह्य ज्ञान को चेतना मानते हैं। उनके अनुसार–'चेतन मानस की प्रमुख विशेषता चेतना है अर्थात् वस्तुओं, विषयों व व्यवहारों का ज्ञान।' जबकि मुक्ति बोध यह मानते हैं कि यह मानव संबंधों के आधार पर

उसकी विश्व दृष्टि बनाती है। उनके अनुसार–'यह विश्व दृष्टि की मानवीय चेतना है। चेतना व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों से उद्भूत है। इस प्रकार स्पष्ट है कि चेतना मानव शरीर में उपस्थित वह आधारभूतत्त्व है, जिसके कारण उसे सभी प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। मानव–मस्तिष्क चेतना का मूल स्थान है। मस्तिष्क की तीनों स्थितियाँ चेतन, अवचेतन और अर्धचेतन चेतना के स्तरों को निर्धारित करती हैं। चेतन स्तर पर वे सभी बातें रहती हैं, जिसके द्वारा हम सोचते–समझते और कार्य करते हैं। अवचेतन में वे सभी बातें रहती हैं जिनका हमें ज्ञान नहीं रहता, जिन्हें हम भूल चुके होते हैं और यत्न करने पर भी याद नहीं आती हैं। जो अनुभूतियाँ एक बार चेतना में आई रहती हैं वे भी कभी अवचेतन में चली जाती है वे अनुभूतियाँ निष्क्रिय नहीं वरन् अनजाने ही मानव को प्रभावित करती हैं। अतः अवचेतन अथवा उपचेतन की प्रतिकूल मानसिक स्थिति का नाम चेतना है।

सामाजिक चेतना :

'समाज' और 'चेतना' को पृथक्–पृथक् समझने के उपरांत यह प्रश्न कौंधता है कि 'सामाजिक–चेतना' क्या है? क्या केवल समाज को जान लेना ही सामाजिक चेतना है या उसको जानकर उसके विषय में अंतस तक विचार करना ही सामाजिक चेतना है अथवा समाज में घटित होने वाली विभिन्न घटनाओं और परिवेश से परिचित होकर आत्मसात् कर क्रियाशील होना सामाजिक चेतना है 'सामाजिक–चेतना' संयुक्त सामाजिक शब्द है। सामाजिक चेतना दो शब्दों से निष्पन्न शब्द है–'समाज एवं चेतना'। अर्थात् समाज की चेतना या समाज विषयक चेतना। समाज गतिशील है, समाज के परंपरागत सि(न्तों में परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन चेतना के द्वारा ही होता है क्योंकि चेतना का धर्म है जागृति। 'जब कोई नूतन विचारधारा समाज में प्रविष्ट होती है और निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ती है तो सामाजिक विचारधारा जागृत होती है इसी जागृति को सामाजिक चेतना कहा जाता है।

सामाजिक चेतना : विविध आयाम :

सामाजिक चेतना समानता की भावना की उपज है जब तक एक मानव दूसरे मानव को अपने से निचले स्तर का समझेगा, तब तक सामाजिक चेतना का विकास नहीं होगा। इसका मूल कारण है दूसरों को अपने समकक्ष समझना और उनकी परिस्थितियों में स्वयं को रखकर उनका मूल्यांकन करना। ऐसी स्थिति में व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की समस्त आवश्यकताओं, समस्याओं, गुण एवं अवगुणों से परिचित होता है, तब जाकर कहीं सामाजिक चेतना का विकास होता है। किसी भी समाज के आवश्यक पहलू राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक ही होते हैं। किसी भी समाज का मूल्यांकन जब तक इन बिंदुओं के आधार पर नहीं किया जाता तब तक न तो उस समाज को पूर्णरूपेण जाना जा सकता है और न ही उसमें सुधार की अपेक्षा ही की जा सकती है। अतः सामाजिक चेतना के इन आयामों को समझना आवश्यक है। सामाजिक चेतना के आयामों का विवेचन आगे प्रस्तुत किया जा रहा है–

राजनीतिक आयाम :

राजनीतिक चेतना का सामान्य अर्थ है–राजनीति का ज्ञान। जन सामान्य के संदर्भ में प्रयुक्त होने पर उसका अर्थ हो जाता है–राजनीतिक परिस्थितियों एवं घटनाओं के प्रति जनसामान्य की प्रतिक्रिया। किसी भी समाज का राजनीतिक वातावरण तथा परिस्थितियाँ उसके वर्तमान अस्तित्व का निर्धारण करती हैं। कहा भी जाता है– 'यथा राजा तथा प्रजा' अर्थात् जैसा राजा होगा वैसी ही प्रजा होगी। राजनीतिक नेतृत्व किसी भी समाज के लिए आवश्यक है। राजनीतिक नेतृत्व का दायित्व परिवार के मुखिया की तरह होता है जैसे परिवार का मुखिया अपने परिवार के कल्याण में संलग्न रहता है दूसरों के सुख–दुःख को समझता है। इसी प्रकार समाज का मुखिया भी ऐसा होना चाहिए जो अपने उत्तरदायित्वों को समझता हो और उसको निभाने में सक्षम हो। समाज, साहित्य एवं राजनीति का अटूट संबंध है। ये तीनों ही एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं। मनुष्य समाज की सबसे छोटी इकाई है तथा समाज में होने वाली घटनाओं एवं परिस्थितियों का प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पड़ता है। साहित्य में समाज प्रतिबिम्बित होता है। मानव जीवन पर पड़े प्रभावों का साहित्य में चित्रांकन होता है। साहित्य समाज को सुचारू और सुव्यवस्थित ढंग से प्रभावित कर मोड़ सकता है। अतः साहित्य और राजनीति को पृथक् नहीं देखा जा सकता। 'राजनीति को साहित्य से पृथक् करना जीवन को एकांगी बना देना है।'1साहित्य में राजनीति का प्रवेश दो रूपों में होता है। पहला, लेखक की वैचारिक प्रतिब(ता के कारण और दूसरा, जन–जीवन पर पड़ने वाले राजनीतिक प्रभावों के निष्पक्ष अंकन के रूप में। साहित्य के माध्यम से राजनीतिक विचारधारा के प्रचार का निरंतर विरोध होता रहा है। इस संदर्भ में स्टैनडहल का कथन है कि –'साहित्य में राजनीति, संगीत–गोष्ठी के मध्य चलाई गई पिस्तौल की गोली की तरह है जो कि तीव्र और अशिष्ट होती है और व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करे बगैर नहीं रहती।' जिन कृतियों को राजनीतिक कृति कहा जाता है उनमें लेखक जीवन पर पड़ने वाले राजनीतिक परिस्थितियों और घटनाओं के प्रभावों का अध्ययन कर अंकन करता है। उसका उद्देश्य अपनी कृति में राजनीतिक विचारधारा को लादना नहीं होता।

सामाजिक आयाम :

मानव समाजशील है। समाज के बिना उसका रहना व विकास करना असंभव है। समाज में रहते हुए वह जिन रूढ़ियों, नीति–नियमों तथा परम्पराओं का पालन करता है, जिन जीवन–मूल्यों को अपनाता है, उन सबका वर्णन साहित्य में आवश्यक रूप से होता है, इसलिए साहित्य समाज का वास्तविक प्रतिबिंब होता है। मानव जब अपना चेहरा आइने में देखता है तब उसमें उसकी बाहरी सजावट तो देखता ही है पर साथ ही वह अपने चेहरे में अंतर्मन की उथल–पुथल भी देखता है। बाहरी साज–श्रृंगार को देखते–देखते वह अंतर्मन में भी झांककर देखने लगता है और तब वह अपने गुण–दोषों से परिचित होता है यही परिचय समाज में मिलता है। साहित्यकार का लक्ष्य है कि वह मानव के आडंबर को बेनकाब करे। भारतीय सामाजिक चतना की सहस्त्रों वर्षों की अखंडित और आलोकपूर्ण कथा है। भारतीय सामाजिक चेतना के उषाकाल में आरण्यक जीवन को उर्ध्वगामी चेतना का वरदान प्राप्त हुआ था। सामाजिक विकास–क्रम को नूतन ऊँचाइयों तक ले जाने का दिव्य आह्वान वेद, बु(और वेदांत की वाणी में है। भारतीय सामाजिक चेतना की गौरवपूर्ण परम्परा का साक्षी इसका प्राचीन साहित्य है। इतिहास का मध्यकाल उस गौरवमयी परम्परा का निर्वाह नहीं कर सका था। किन्तु मध्यकाल के सन्तों ने सामाजिक चेतना को नूतन नीति और नैतिकता प्रदान की थी। भारतीय मध्यकालीन शताब्दियों में सामाजिक चेतना की निराशाजनक उपेक्षा उनीसवीं शती की आधुनिकता ने भंग की। 'प्राचीनकाल में भारतीय समाज का विकास वर्णों द्वारा और व्यक्ति का विकास आश्रमों द्वारा हुआ। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–गुण और कर्मों के आधार पर बने तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम से भी व्यक्ति के विकास–क्रम की सूचना मिलती है।

आर्थिक आयाम :

सामाजिक जीवन की अर्थ–व्यवस्था संबंधी विभिन्न स्थितियों, समस्याओं एवं उसके समाधानों के मध्य गतिशील चेतना को आर्थिक चेतना कहा जा सकता है। समाज की आर्थिक चेतना के दो प्रकार हैं–एक स्वाधीनता परवर्ती मानसिकता और दूसरा, वर्तमान की वास्तविक आर्थिक परिस्थिति। अगर समग्र रूप से देखा जाए तो विदित होगा कि स्वाधीनता परवर्ती भारतीय समाज पहले की अपेक्षा समृ(तो हुआ परन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि उस समृ(के प्रति संतोष के स्थान पर असंतोष बढ़ा है। देश के समाज को पराधीनता की अवस्था में विदेशी शासक के प्रति उतनी शिकायत नहीं होती जितनी की स्वाधीनता की स्थिति में अपने ही शासकों से होती है। विदेशी शासकों ने देश को आर्थिक दृष्टि से खोखला कर दिया था, भारतीय समाज इस सारे खोखलेपन के दुष्परिणाम को सहते हुए भी यह समझता था कि गुलामी की अवस्था में तो यह सब होना ही है, किन्तु स्वतन्त्रा भारत में जब अपेक्षाकृत अधिक समृ(के होते हुए भी समाज में आर्थिक समानता के स्थान पर आर्थिक विषमता बढ़ती गई ओर देश के नेताओं व शासकों की स्वार्थपरता अधिकाधिक बलवती होती गई, तब भारतीय समाज में असंतोष की स्थिति पैदा होना स्वाभाविक था। इस प्रकार अपेक्षाकृत आर्थिक समृ(के अतिरिक्त जो हमारे वर्तमान समाज की आर्थिक चेतना है–उसमें विद्रोह, असंतोष व अमर्ष का बोधन अधिक है।

धार्मिक आयाम :

धर्म शब्द 'धृ' धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ है–धारण शक्ति। अतः किसी भी वस्तु की धारण शक्ति को धर्म कहा जाता है। महाभारत में कहा गया है–

'धारणा मित्याहुधर्मों धारयते प्रजाः।

यत्स्याद् धारणां संयुक्त सधर्म इति निश्चयः।।'

अर्थात् धारण करने के कारण धर्म, धर्म कहलाता है। धर्म प्रजा को धारण करता है जो धारण शक्ति से युक्त है, वही धर्म है इसे निश्चय समझो। धर्म प्राचीन समय से लेकर आधुनिक समय तक मनुष्य के साथ रहा है जिसके कारण इसके स्वरूप में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। प्राचीन समय में धर्मविहीन व्यक्ति को पशु समान माना जाता था। वेदों, पुराणों व अन्य धार्मिक ग्रंथों में भी धर्मविहीन व्यक्ति की अवहेलना की गई है। संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में कहा गया है कि–'धर्म एक प्रकार से हमारा आदर्श गुरु है। यदि हम विजयी हैं तो हमारा हाथ पकड़ने वाला कोई नहीं किन्तु यदि हम उच्छृंखल हैं और गड्डे में गिरने को तैयार हैं तो धर्म के अतिरिक्त हमें बचाने वाला कोई नहीं, धर्म हमें पतित नहीं होने देता। इसलिए जब धर्म साहित्य के भीतर प्रतिष्ठित किया जाता है तो वह साहित्य को भी ऊंचा उठाता है, साहित्य में धर्म आदिकाल तक रहा है और अन्तकाल तक रहेगा।

निष्कर्ष :

भारत जैसे विशाल भू–खण्ड व अनेक भाषा व संस्कृतियों वाले देश की एकता व अखण्डता के लिए सामाजिक चेतना अत्यंत आवश्यक तत्त्व हैं सामाजिक चेतना एक भावनात्मक तत्त्व है, जिससे समस्त देश की विविधता व अनेकता एकता व प्रेम के सूत्रा में बंध जाती है।

भारत की सामाजिक–सांस्कृतिक विवधता के कारण इसके बिखराव की अत्यधिक संभावना बनी रहती है। निस्संदेह इन विविधताओं के बिखराव का कारण राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक ही है। किसी भी वस्तु के दो पहलू होते हैं। एक अच्छा तो दूसरा उसके विपरीत बुरा। एक तरफ इसकी विविधता जहां माला में पिरोहित विविध रंग–बिरंगे पफूलों की भांति यदि इसके सौंदर्य की श्रीवृ(करती है तो दूसरी ओर इसके विघटन का कारण भी बनती है। ऐसे विविधताओं के परिवेश में एकता की आवश्यकता सदैव ही महसूस की जाती है। इसलिए प्रत्येक देशवासी का दायित्व बनता है कि वह इसकी एकता और अखंडता के लिए इसकी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व सांस्कृतिक एकता बनाए रखने में अपना सहयोग दे। तभी हम अखंड भारत को यथावत बनाए रख सकेंगे तथा आने वाली पीढ़ी को अखंडित भारत सौंप सकेंगे। वैसे तो समाज व उसकी विभिन्न समस्याओं का अध्ययन समाजशास्त्री का ही कार्य है किन्तु एक संवेदनशील साहित्यकार भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता, क्योंकि वह समाज का व्यक्ति होने के कारण इससे व इसमें घटित होने वाली घटनाओं से अपने–आप को दूर नहीं रख सकता। उसकी समाज के प्रति जो भावना जागृत होती है वही सामाजिक चेतना है वह इसके अन्तर्गत वह समाज की प्रत्येक समस्या को आम जन के समक्ष अपनी सुन्दर कल्पना व यथार्थ का समन्वय करके प्रस्तुत करता है। समाज के अंदर विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व सांस्कृतिक विकास व समस्याओं के प्रति संवेदनशील होना ही सामाजिक चेतना है और एक सच्चा साहित्यकार सामाजिक चेतना के प्रत्येक आयाम को महत्त्वपूर्ण मानकर अपने हृदय विशेष में उठे भावों व विचारों को आम जन समाज के हृदय तक पहुंचाकर समस्त जन में जागृति पफैला देता है। वर्तमान समय में सामाजिक चेतना व उसके प्रत्येक आयाम की विस्तार पूर्वक वर्णन व उसके प्रति आम व्यक्ति की जागृति व जागरूकता लाने का कार्य हमारे साहित्यकार कर रहे हैं। इनमें से मृणाल जी भी ऐसी ही समाज के प्रति समर्पित साहित्यकार हैं, जिन्होंने अपने साहित्य में सामाजिक चेतना के प्रत्येक आयाम को स्थान दिया है तथा समाज के प्रत्येक पक्ष के प्रति अपने साहित्य में चिंता व्यक्त करते हुए उसके सभी पक्षों को उजागर करके अपने कर्त्तव्य का पालन किया है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

मृणाल पाण्डे (2000). रास्तों पर भटकते हुए, राधकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, जी–17, जगतपुरी, दिल्ली–110002

मृणाल पाण्डे (2003). अपनी गवाही, राधकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, जी–17, जगतपुरी, दिल्ली–110002

प्रिया अंबिका (1988). भैरव प्रसाद गुप्त के उपन्यासों में सामाजिक चेतना, संतोष प्रकाशन, दिल्ली

सच्चिदानंद हीरानंद (1976). साहित्य और समाज–परिवर्तन की वात्स्यायन 'अज्ञेय' प्रक्रिया नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली

डॉ. नगेन्द्र (1967). काव्य–बिम्ब, नैशनल पब्लिशिंग हाऊस, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण–1967

डॉ. गणपतिचन्द्र 'गुप्त' (1994). साहित्यिक निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण

जैनेन्द्र कुमार (1971). समय, समस्या और सिद्धान्त पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली

ग्रन्थम (1963). कानपुर, 1965 डॉ. रामविलास शर्मा आस्था और सौंदर्य किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण

Corresponding Author

Dr. Hemlata Sharma*

Assistant Professor, J. C. College, Assandh, Karnal, Haryana

E-Mail – arora.kips@gmail.com